Journal Homepage: www.ijarpr.com ISSN: 3049-0103 (Online)

International Journal of Advance Research Publication and Reviews

Vol 03, Issue 3, pp 01-08, March, 2026

भौतिकतावादी युग में मानवीय चेतना एवं गरिमा के विकास में श्रीमद्भगवद्गीता की भूमिका

ईश्वर मणि ओझा [1], डॉ. मनीषा सिंह [2]

[1] शोधार्थी, [2]प्रोफेसर

[1, 2] संस्कृत विभाग , जे.एस. विश्वविद्यालय, शिकोहबाद, फिरोजाबाद

सारांश

वर्तमान युग विज्ञान, प्रौद्योगिकी, औद्योगिकीकरण, वैश्वीकरण तथा उपभोक्तावादी संस्कृति के तीव्र विस्तार का युग है। भौतिक संसाधनों की उपलब्धता ने मानव जीवन को सुविधाजनक बनाया है, किंतु इसके साथ ही अत्यधिक भौतिकतावाद, उपभोग की प्रवृत्ति, प्रतिस्पर्धा, स्वार्थ, तनाव, नैतिक मूल्यों के ह्रास तथा मानवीय संबंधों में बढ़ती संवेदनहीनता जैसी समस्याएँ भी उभरकर सामने आई हैं। ऐसी परिस्थितियों में मानवीय चेतना, नैतिकता, आत्मसंयम और मानवीय गरिमा की पुनर्स्थापना एक महत्वपूर्ण सामाजिक एवं दार्शनिक आवश्यकता बन गई है। श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय दार्शनिक परंपरा का ऐसा महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें मनुष्य के आंतरिक विकास, आत्मबोध, कर्तव्य, समत्व, निष्काम कर्म, आत्मसंयम, लोकसंग्रह तथा सार्वभौमिक आत्मदृष्टि का अत्यंत गहन विवेचन प्राप्त होता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य भौतिकतावादी युग की प्रमुख चुनौतियों के संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में निहित मानवीय चेतना एवं गरिमा संबंधी विचारों का विश्लेषण करना तथा यह स्पष्ट करना है कि गीता का दर्शन आधुनिक मनुष्य के नैतिक एवं मानवीय विकास में किस प्रकार उपयोगी हो सकता है। अध्ययन में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है तथा श्रीमद्भगवद्गीता को प्रमुख प्राथमिक स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गीता का कर्मयोग मनुष्य को निष्क्रियता नहीं, बल्कि उत्तरदायी कर्म की प्रेरणा देता है; समत्वयोग मानसिक संतुलन प्रदान करता है; आत्मज्ञान व्यक्ति को बाह्य उपलब्धियों से परे अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान कराता है; तथा लोकसंग्रह की अवधारणा व्यक्ति को व्यापक सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ती है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता आधुनिक भौतिकतावादी समाज में मानवीय चेतना, नैतिक उत्तरदायित्व और गरिमा के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण दार्शनिक आधार प्रस्तुत करती है।

प्रमुख शब्द: श्रीमद्भगवद्गीता, भौतिकतावाद, मानवीय चेतना, मानवीय गरिमा, कर्मयोग, आत्मज्ञान, नैतिकता, समत्व, लोकसंग्रह।

1. प्रस्तावना

मानव सभ्यता का विकास ज्ञान, विज्ञान और तकनीकी प्रगति के साथ निरंतर हुआ है। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को प्रकृति की अनेक शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करने में सहायता प्रदान की है। संचार, चिकित्सा, परिवहन, सूचना-प्रौद्योगिकी और कृत्रिम बुद्धिमत्ता जैसी तकनीकों ने मानव जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक बनाया है। तथापि भौतिक प्रगति के साथ मनुष्य के जीवन में अनेक ऐसी जटिलताएँ भी उत्पन्न हुई हैं जिनका संबंध उसके मानसिक, नैतिक और सामाजिक जीवन से है।

वर्तमान भौतिकतावादी व्यवस्था में व्यक्ति की सफलता का मूल्यांकन प्रायः धन, पद, प्रतिष्ठा, उपभोग और भौतिक उपलब्धियों के आधार पर किया जाने लगा है। परिणामस्वरूप व्यक्ति की आवश्यकताएँ निरंतर इच्छाओं में और इच्छाएँ निरंतर प्रतिस्पर्धा में परिवर्तित होती जा रही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्य की इसी अंतहीन कामना की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए कहती है—

“ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥” —श्रीमद्भगवद्गीता, 2.62

अर्थात् विषयों का निरंतर चिंतन करने से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना और कामना की पूर्ति में बाधा आने पर क्रोध उत्पन्न होता है। यह श्लोक आधुनिक उपभोक्तावादी जीवन में इच्छा, आसक्ति और मानसिक अशांति के संबंध को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इसी प्रकार गीता मनुष्य को बाह्य उपलब्धियों के बजाय आत्मसंयम और आत्मबोध की ओर प्रेरित करती है। गीता के अनुसार—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 6.5

यह विचार व्यक्ति की आत्मनिर्भरता, आत्मविकास और आत्मसम्मान की आधारभूमि तैयार करता है। इस दृष्टि से गीता का दर्शन वर्तमान समय में मानवीय चेतना एवं गरिमा के विकास के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक दिखाई देता है।

2. अध्ययन की समस्या

आधुनिक भौतिकतावादी जीवन-व्यवस्था में मनुष्य के सामने सबसे बड़ी चुनौती केवल भौतिक संसाधनों की कमी नहीं, बल्कि जीवन के उद्देश्य और मूल्यों का संकट है। आर्थिक विकास एवं तकनीकी उन्नति के बावजूद तनाव, असंतोष, प्रतिस्पर्धा, स्वार्थ और सामाजिक विघटन जैसी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं।

समस्या यह है कि भौतिक उपलब्धियों की निरंतर वृद्धि क्या मनुष्य की वास्तविक गरिमा और चेतना के विकास की भी गारंटी देती है? यदि नहीं, तो ऐसा कौन-सा मूल्य-दर्शन हो सकता है जो व्यक्ति को भौतिक प्रगति के साथ-साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से भी विकसित करे?

इसी संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि गीता मनुष्य के बाह्य कर्म और आंतरिक चेतना के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती है।

3. अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. भौतिकतावादी युग की प्रमुख मानवीय एवं नैतिक चुनौतियों का विश्लेषण करना।
2. श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित मानवीय चेतना की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. गीता के आत्मज्ञान, कर्मयोग, समत्व और निष्काम कर्म के सिद्धांतों का विश्लेषण करना।
4. मानवीय गरिमा के विकास में गीता के विचारों की भूमिका स्पष्ट करना।
5. आधुनिक जीवन में गीता के नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की प्रासंगिकता का परीक्षण करना।
6. व्यक्ति एवं समाज के नैतिक पुनर्निर्माण में गीता के योगदान की संभावनाओं को रेखांकित करना।

4. अनुसंधान पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन मुख्यतः **वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक अनुसंधान पद्धति** पर आधारित है। अध्ययन के लिए श्रीमद्भगवद्गीता को प्राथमिक स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन, नैतिक दर्शन, मानव-मूल्य तथा आधुनिक सामाजिक चिंतन से संबंधित पुस्तकों एवं शोध-सामग्रियों का सहायक स्रोत के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

अध्ययन में गीता के चयनित श्लोकों का विषयगत विश्लेषण किया गया है। विशेष रूप से कर्मयोग, आत्मज्ञान, समत्व, इन्द्रिय-निग्रह, लोकसंग्रह, सर्वभूतहित तथा गुणत्रय से संबंधित विचारों को आधुनिक भौतिकतावादी जीवन के संदर्भ में व्याख्यायित किया गया है।

5. भौतिकतावादी युग की प्रमुख विशेषताएँ

5.1 भौतिक उपलब्धियों को सफलता का आधार मानना

आधुनिक समाज में सफलता का संबंध प्रायः आर्थिक स्थिति, पद, प्रतिष्ठा और उपभोग की क्षमता से जोड़ा जाता है। इससे व्यक्ति अपने आंतरिक विकास की अपेक्षा बाह्य उपलब्धियों को अधिक महत्व देने लगता है।

गीता मनुष्य को फल की आसक्ति से मुक्त होकर कर्तव्य-कर्म करने का संदेश देती है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 2.47

इसका आशय कर्म के परिणाम की पूर्ण उपेक्षा करना नहीं, बल्कि कर्म करते समय फल के प्रति अत्यधिक आसक्ति से बचना है। आधुनिक संदर्भ में यह विचार व्यक्ति

को परिणाम-केंद्रित तनाव से बचाकर कर्म-केंद्रित दृष्टिकोण प्रदान कर सकता है।

5.2 उपभोक्तावाद एवं अनियंत्रित इच्छाएँ

आधुनिक बाजार-व्यवस्था निरंतर नई इच्छाओं और आवश्यकताओं का निर्माण करती है। व्यक्ति जितना अधिक प्राप्त करता है, उतनी ही नई इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। गीता इच्छाओं के इस मनोवैज्ञानिक चक्र का विश्लेषण करती है।

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।" —श्रीमद्भगवद्गीता, 3.37

अर्थात् अनियंत्रित कामना मनुष्य के विवेक को प्रभावित कर सकती है। अतः गीता का आत्मसंयम संबंधी दृष्टिकोण उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच संतुलित जीवन के लिए महत्वपूर्ण है।

6. श्रीमद्भगवद्गीता में मानवीय चेतना की अवधारणा

गीता में मनुष्य को केवल शरीर या भौतिक अस्तित्व तक सीमित नहीं माना गया है। उसके भीतर एक चेतन तत्व की कल्पना की गई है जो उसके वास्तविक स्वरूप का आधार है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 2.20

यह श्लोक आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करता है। दार्शनिक दृष्टि से इसका महत्व यह है कि मनुष्य का मूल्य केवल उसके शरीर, धन, पद या सामाजिक स्थिति से निर्धारित नहीं होता। मनुष्य का एक आंतरिक आध्यात्मिक स्वरूप भी है।

यह दृष्टि मानवीय गरिमा के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान करती है, क्योंकि व्यक्ति के मूल्य को बाह्य परिस्थितियों से स्वतंत्र रूप से देखने की संभावना उत्पन्न होती है।

7. आत्मज्ञान और मानवीय गरिमा

मानवीय गरिमा का एक प्रमुख आधार आत्मसम्मान है। गीता आत्मज्ञान के माध्यम से व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा में प्रेरित करती है।

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" —श्रीमद्भगवद्गीता, 4.38

ज्ञान व्यक्ति को अज्ञान, भ्रम और आसक्ति से मुक्त करने वाला साधन है। आधुनिक जीवन में व्यक्ति यदि अपनी पहचान को केवल आर्थिक स्थिति या सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ता है, तो उसकी आत्मछवि बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर हो जाती है। इसके विपरीत आत्मज्ञान व्यक्ति में आंतरिक स्थिरता और आत्मसम्मान विकसित कर सकता है।

8. कर्मयोग और मानवीय गरिमा

गीता का कर्मयोग मानव जीवन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है। कर्मयोग व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का ईमानदारी एवं समर्पण के साथ निर्वहन करने की प्रेरणा देता है।

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 2.48

यहाँ कर्मयोग को समत्व से जोड़ा गया है। सफलता और असफलता की परिस्थितियों में मानसिक संतुलन बनाए रखना व्यक्ति की आंतरिक शक्ति को बढ़ाता है।

आधुनिक प्रतिस्पर्धी समाज में असफलता को व्यक्तिगत अपमान के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ सकती है। गीता की समत्व-दृष्टि इस मानसिकता में परिवर्तन का मार्ग प्रस्तुत करती है।

9. निष्काम कर्म और नैतिक चेतना

गीता का निष्काम कर्म सिद्धांत व्यक्ति को स्वार्थपूर्ण कर्म से ऊपर उठकर कर्तव्य एवं व्यापक कल्याण की ओर प्रेरित करता है।

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परं आप्नोति पूरुषः॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 3.19

निष्काम कर्म का अर्थ कर्म का त्याग नहीं है। इसका मूल आशय आसक्ति का त्याग है। व्यक्ति अपने कर्तव्य को ईमानदारी से करता है, लेकिन व्यक्तिगत लाभ को कर्म का एकमात्र उद्देश्य नहीं बनाता।

इस प्रकार निष्काम कर्म आधुनिक समाज में नैतिक उत्तरदायित्व, सेवा-भाव और सामाजिक संवेदनशीलता के विकास में योगदान कर सकता है।

10. लोकसंग्रह और सामाजिक उत्तरदायित्व

गीता व्यक्ति को केवल व्यक्तिगत मुक्ति की दिशा में नहीं ले जाती, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना भी विकसित करती है।

"लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।" —श्रीमद्भगवद्गीता, 3.20

लोकसंग्रह का अर्थ व्यापक रूप से समाज के हित, व्यवस्था और कल्याण से जोड़ा जा सकता है। आधुनिक संदर्भ में यह विचार सामाजिक उत्तरदायित्व, सामुदायिक सहयोग और सार्वजनिक नैतिकता के लिए महत्वपूर्ण है।

यदि व्यक्ति केवल निजी लाभ को प्राथमिकता देता है, तो सामाजिक असमानता और संघर्ष बढ़ सकते हैं। इसके विपरीत लोकसंग्रह की भावना व्यक्ति को अपने कर्म के सामाजिक प्रभाव के प्रति सजग बनाती है।

11. समत्व और मानसिक संतुलन

आधुनिक भौतिकतावादी जीवन में तनाव का एक प्रमुख कारण निरंतर प्रतिस्पर्धा और परिणामों की चिंता है। गीता समत्व को योग का स्वरूप मानती है—

"समत्वं योग उच्यते।" —श्रीमद्भगवद्गीता, 2.48

समत्व का अर्थ जीवन की परिस्थितियों के प्रति संतुलित दृष्टिकोण विकसित करना है। सफलता में अत्यधिक अहंकार और असफलता में अत्यधिक निराशा—दोनों ही मानसिक असंतुलन का कारण बन सकते हैं।

गीता की समत्व-दृष्टि व्यक्ति को परिस्थितियों के बीच आंतरिक संतुलन बनाए रखने की प्रेरणा देती है। इस प्रकार यह आधुनिक जीवन में मानसिक दृढ़ता और आत्मनियंत्रण के विकास में सहायक हो सकती है।

12. इन्द्रिय-संयम और आत्मनियंत्रण

मानवीय गरिमा केवल बाहरी स्वतंत्रता से नहीं, बल्कि आत्मनियंत्रण की क्षमता से भी संबंधित है। गीता इन्द्रियों एवं मन के संयम पर विशेष बल देती है।

"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 2.58

कछुए की उपमा के माध्यम से गीता यह बताती है कि विवेकशील व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर अपनी इन्द्रियों को विषयों से नियंत्रित कर सकता है। आधुनिक उपभोक्तावादी वातावरण में यह विचार अत्यंत उपयोगी है, जहाँ व्यक्ति निरंतर विज्ञापन, मनोरंजन और उपभोग की प्रेरणाओं से प्रभावित होता है।

13. मन पर नियंत्रण और आत्मविकास

गीता मन को मानव जीवन की दिशा निर्धारित करने वाला महत्वपूर्ण तत्व मानती है।

"बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 6.6

जिस व्यक्ति ने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली है, उसका मन उसका मित्र बन जाता है; जबकि असंयमित मन उसके लिए शत्रु के समान हो सकता है।

आधुनिक जीवन में मानसिक एकाग्रता, आत्मनियंत्रण और भावनात्मक संतुलन का महत्व निरंतर बढ़ रहा है। इस संदर्भ में गीता का मनोनिग्रह संबंधी दर्शन व्यक्तिगत विकास के लिए उपयोगी आधार प्रदान करता है।

14. सर्वभूतहित और मानवीय समानता

गीता की मानवीय दृष्टि व्यक्ति को व्यापक जीव-जगत् से जोड़ती है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 6.30

इसी प्रकार गीता समदृष्टि की भावना को भी महत्त्व देती है—

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 5.18

समदर्शिता का यह विचार मानवीय गरिमा की सार्वभौमिक अवधारणा के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह व्यक्ति को बाहरी भेदों से ऊपर उठकर व्यापक मानवीय दृष्टि विकसित करने की प्रेरणा देता है।

15. दैवी गुण और मानवीय गरिमा

गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी संपदाओं का विस्तृत विवेचन मिलता है। श्रीकृष्ण दैवी गुणों में अभय, शुद्धता, आत्मसंयम, सत्य, अहिंसा, दया, अलोलुपता, क्षमा आदि को सम्मिलित करते हैं—

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 16.1

ये गुण व्यक्ति के चरित्र-निर्माण के लिए महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक भौतिकतावादी समाज में यदि सफलता को केवल आर्थिक उपलब्धि से जोड़ दिया जाए, तो चरित्र, सत्य, दया और संयम जैसे गुण उपेक्षित हो सकते हैं। गीता इस प्रवृत्ति के स्थान पर संतुलित एवं नैतिक व्यक्तित्व के निर्माण पर बल देती है।

16. त्रिगुण सिद्धांत और आधुनिक व्यक्तित्व

गीता में सत्त्व, रजस् और तमस्—तीन गुणों का वर्णन मिलता है। ये गुण व्यक्ति की प्रवृत्तियों, व्यवहार और मानसिक स्थिति को प्रभावित करते हैं।

"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।" —श्रीमद्भगवद्गीता, 14.5

आधुनिक संदर्भ में त्रिगुण सिद्धांत को व्यक्ति के व्यवहार, प्रेरणा और जीवन-दृष्टि को समझने के एक दार्शनिक ढाँचे के रूप में देखा जा सकता है। सत्त्व स्पष्टता, संतुलन और विवेक से संबंधित है; रजस् सक्रियता, इच्छा और आसक्ति से; जबकि तमस् जड़ता, अज्ञान और प्रमाद से संबंधित माना गया है।

भौतिकतावादी संस्कृति में रजोगुणी प्रवृत्तियों की प्रधानता—जैसे अत्यधिक इच्छा, प्रतिस्पर्धा और उपलब्धि की निरंतर आकांक्षा—व्यक्ति को मानसिक असंतुलन की ओर ले जा सकती है। गीता विवेक, संयम और आत्मज्ञान के माध्यम से संतुलित जीवन की ओर संकेत करती है।

17. भौतिकता और आध्यात्मिकता में संतुलन

गीता भौतिक जीवन का पूर्ण निषेध नहीं करती। अर्जुन को युद्धभूमि में अपने कर्तव्य का पालन करने की प्रेरणा देना इसका प्रमाण है। गीता का दृष्टिकोण संसार से पलायन के बजाय संसार में रहते हुए विवेकपूर्ण एवं नैतिक कर्म करने का है।

इस दृष्टि से गीता आधुनिक मनुष्य को यह संदेश देती है कि भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक विकास परस्पर विरोधी नहीं हैं। समस्या भौतिक संसाधनों के उपयोग में नहीं, बल्कि उनके प्रति अत्यधिक आसक्ति में है।

व्यक्ति धन, तकनीक और भौतिक साधनों का उपयोग कर सकता है, किंतु उन्हें जीवन का अंतिम उद्देश्य नहीं बनाना चाहिए। यही दृष्टिकोण भौतिक उपलब्धियों और मानवीय गरिमा के बीच संतुलन स्थापित कर सकता है।

18. आधुनिक शिक्षा और गीता का मानवीय दृष्टिकोण

शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार प्राप्त करने की क्षमता विकसित करना नहीं, बल्कि विवेकशील, उत्तरदायी और नैतिक व्यक्तित्व का निर्माण भी होना चाहिए। इस संदर्भ में गीता का ज्ञान, कर्म, आत्मसंयम और नैतिकता संबंधी दर्शन आधुनिक शिक्षा के लिए उपयोगी हो सकता है।

गीता कहती है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 4.34

यहाँ ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिज्ञासा, विनम्रता और सेवा की भावना को महत्व दिया गया है। आधुनिक शिक्षा में आलोचनात्मक चिंतन, संवाद, नैतिक विवेक और सामाजिक उत्तरदायित्व के विकास के साथ इस दृष्टिकोण का समन्वय किया जा सकता है।

19. नेतृत्व और मानवीय गरिमा

आधुनिक संस्थाओं में नेतृत्व का प्रभाव केवल आर्थिक परिणामों तक सीमित नहीं होता। एक नेता की नैतिकता, निर्णय क्षमता और सामाजिक उत्तरदायित्व संस्थागत संस्कृति को प्रभावित करते हैं।

गीता में आदर्श नेतृत्व की भावना लोकसंग्रह के माध्यम से व्यक्त होती है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥" —श्रीमद्भगवद्गीता, 3.21

श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण का प्रभाव अन्य लोगों पर पड़ता है। आधुनिक नेतृत्व के संदर्भ में यह सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है। नेतृत्व केवल अधिकार का प्रयोग नहीं, बल्कि आदर्श आचरण और सामाजिक उत्तरदायित्व का विषय है।

20. मानवीय गरिमा और अहंकार का परित्याग

भौतिकतावादी जीवन में धन, पद और उपलब्धियों से अहंकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है। गीता व्यक्ति को अहंकार, आसक्ति और स्वार्थ से ऊपर उठने की प्रेरणा देती है।

"निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।" —श्रीमद्भगवद्गीता, 15.5

अहंकार का त्याग व्यक्ति को दूसरों के प्रति सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता करता है। इस प्रकार विनम्रता और आत्मसंयम मानवीय गरिमा के विकास के महत्वपूर्ण आधार बनते हैं।

21. आधुनिक समाज में गीता की प्रासंगिकता

श्रीमद्भगवद्गीता की प्रासंगिकता केवल धार्मिक या आध्यात्मिक संदर्भ तक सीमित नहीं है। इसका दर्शन मनुष्य के व्यक्तिगत, सामाजिक और नैतिक जीवन से भी संबंधित है।

आज के संदर्भ में गीता के निम्नलिखित सिद्धांत विशेष रूप से उपयोगी हैं—

- **निष्काम कर्म** — स्वार्थ से ऊपर उठकर उत्तरदायी कर्म की प्रेरणा।
- **समत्व** — सफलता-असफलता के बीच मानसिक संतुलन।
- **आत्मज्ञान** — आत्मसम्मान एवं आत्मचेतना का विकास।
- **इन्द्रिय-संयम** — उपभोक्तावाद एवं अनियंत्रित इच्छाओं पर नियंत्रण।
- **लोकसंग्रह** — सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना।
- **समदृष्टि** — भेदभाव से ऊपर उठकर मानवीय समानता की दृष्टि।
- **दैवी संपदा** — सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा और आत्मसंयम जैसे गुणों का विकास।
- **कर्तव्यबोध** — अधिकार के साथ उत्तरदायित्व को स्वीकार करना।

22. प्रमुख निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

1. भौतिक प्रगति मानव जीवन को सुविधाजनक बनाती है, किंतु वह अपने आप मानवीय चेतना एवं गरिमा के विकास की गारंटी नहीं देती।
2. श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्य के बाह्य जीवन और आंतरिक चेतना के बीच संतुलन स्थापित करने की दार्शनिक दृष्टि प्रदान करती है।
3. गीता का कर्मयोग व्यक्ति को सक्रिय, उत्तरदायी और कर्तव्यनिष्ठ जीवन की प्रेरणा देता है।
4. निष्काम कर्म व्यक्ति को अत्यधिक स्वार्थ और फलासक्ति से मुक्त कर नैतिक चेतना विकसित करने में सहायक हो सकता है।
5. समत्व का सिद्धांत आधुनिक तनावपूर्ण एवं प्रतिस्पर्धी जीवन में मानसिक संतुलन के विकास के लिए महत्वपूर्ण है।
6. आत्मज्ञान व्यक्ति को अपनी गरिमा और वास्तविक अस्तित्व के प्रति सजग करता है।
7. इन्द्रिय-संयम एवं मनोनिग्रह उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच संतुलित जीवन के लिए उपयोगी मूल्य प्रस्तुत करते हैं।
8. लोकसंग्रह की अवधारणा व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित के बीच संतुलन स्थापित करती है।
9. गीता की समदृष्टि मानवीय समानता और सम्मान की व्यापक भावना को प्रोत्साहित करती है।
10. गीता के दैवी गुण आधुनिक समाज में नैतिक चरित्र एवं मानवीय मूल्यों के विकास के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान कर सकते हैं।

23. सुझाव

भौतिकतावादी युग में गीता के मानवीय दर्शन को व्यवहारिक रूप देने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

1. शिक्षा व्यवस्था में नैतिक एवं मूल्यपरक शिक्षा को उचित स्थान दिया जाना चाहिए।
2. विद्यार्थियों में आत्मसंयम, कर्तव्यबोध, सहिष्णुता और सामाजिक उत्तरदायित्व विकसित करने पर बल दिया जाना चाहिए।
3. गीता के दर्शन को धार्मिक आग्रह के बजाय नैतिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से समझने की आवश्यकता है।
4. आधुनिक नेतृत्व प्रशिक्षण में कर्मयोग, लोकसंग्रह और आदर्श आचरण के सिद्धांतों का समावेश किया जा सकता है।
5. उपभोक्तावाद के बीच संतुलित एवं उत्तरदायी जीवनशैली के विकास के लिए आत्मसंयम और संतोष जैसे मूल्यों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।
6. सामाजिक संस्थाओं में मानवीय सम्मान, समानता और सहयोग की संस्कृति को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
7. आधुनिक तकनीकी विकास के साथ नैतिक विवेक और मानवीय उत्तरदायित्व को भी समान महत्व दिया जाना चाहिए।

24. उपसंहार

वर्तमान भौतिकतावादी युग में मानव जीवन अभूतपूर्व भौतिक एवं तकनीकी उपलब्धियों से समृद्ध हुआ है, किंतु इसी के साथ मानवीय मूल्यों, आत्मसंयम, नैतिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व की चुनौतियाँ भी बढ़ी हैं। ऐसी परिस्थिति में श्रीमद्भगवद्गीता का दर्शन आधुनिक मनुष्य के लिए आत्मचिंतन एवं नैतिक पुनर्संरचना का महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है।

गीता मनुष्य को संसार से विमुख होने का संदेश नहीं देती, बल्कि संसार में रहते हुए कर्तव्यनिष्ठ, संयमित, विवेकशील और उत्तरदायी जीवन जीने की प्रेरणा देती है। कर्मयोग व्यक्ति को कर्म के प्रति प्रतिबद्ध बनाता है; निष्काम कर्म उसे स्वार्थ और फलासक्ति से ऊपर उठाता है; समत्व मानसिक संतुलन प्रदान करता है; आत्मज्ञान आत्मचेतना और आत्मसम्मान का विकास करता है; तथा लोकसंग्रह व्यक्ति को व्यापक सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता का महत्व केवल आध्यात्मिक साधना तक सीमित नहीं है। इसके विचार आधुनिक मनुष्य के नैतिक, सामाजिक और मानवीय विकास के लिए भी अत्यंत उपयोगी हैं। भौतिक संसाधनों को जीवन का साधन मानते हुए उन्हें जीवन का अंतिम लक्ष्य न बनाना, व्यक्ति की आंतरिक गरिमा को पहचानना, अपने कर्तव्य का निष्पक्ष निर्वहन करना तथा समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखना—ये सभी मूल्य आधुनिक समाज को अधिक मानवीय बनाने में योगदान दे सकते हैं।

अतः यह निष्कर्ष उचित है कि **भौतिकतावादी युग में मानवीय चेतना एवं गरिमा के विकास के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग, आत्मज्ञान, समत्व, आत्मसंयम**

और लोकसंग्रह-आधारित जीवन-दर्शन अत्यंत प्रासंगिक एवं उपादेय है। गीता आधुनिक मनुष्य को यह स्मरण कराती है कि वास्तविक प्रगति केवल बाह्य संसाधनों की वृद्धि में नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर विवेक, करुणा, आत्मसंयम, नैतिकता और व्यापक मानवीय चेतना के विकास में निहित है।

संदर्भ ग्रंथ

प्राथमिक स्रोत

1. **श्रीमद्भगवद्गीता।** (अध्याय 2, श्लोक 20, 47, 48, 58, 62; अध्याय 3, श्लोक 19, 20, 21, 37; अध्याय 4, श्लोक 34, 38; अध्याय 5, श्लोक 18; अध्याय 6, श्लोक 5, 6, 30; अध्याय 14, श्लोक 5; अध्याय 15, श्लोक 5; अध्याय 16, श्लोक 1–3)। विभिन्न प्रामाणिक संस्कृत संस्करणों से संदर्भित।

2. व्यास। **श्रीमद्भगवद्गीता।** संस्कृत मूलपाठ।

सहायक संदर्भ

3. Radhakrishnan, S. (1948). *The Bhagavadgita*. George Allen & Unwin.

4. Gandhi, M. K. (1929). *Anasaktiyoga: The Gospel of Selfless Action*. Navajivan Publishing House.

5. Prabhavananda, S., & Isherwood, C. (1944). *Bhagavad-Gita: The Song of God*. Vedanta Press.

6. Easwaran, E. (2007). *The Bhagavad Gita*. Nilgiri Press.

7. Deutsch, E. (1968). *The Essential Vedanta: A New Source Book of Advaita Vedanta*. Indiana University Press.

8. Hiriyanna, M. (1993). *Outlines of Indian Philosophy*. Motilal Banarsidass.

9. Radhakrishnan, S. (1923). *Indian Philosophy, Volume I*. George Allen & Unwin.

10. Sharma, C. D. (1960). *A Critical Survey of Indian Philosophy*. Motilal Banarsidass.

11. Zaehner, R. C. (1969). *The Bhagavad-Gita*. Oxford University Press.

12. Arjuna, A. (Ed.). विभिन्न संस्करण। *श्रीमद्भगवद्गीता: भाष्य एवं टीका साहित्य*।